

जैन शास्त्रों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्त्वों का

मानववैज्ञानिक अध्ययन

डॉ. गोकुलचन्द्र जैन

जैन शास्त्र

१.०१ जैन शास्त्र प्राचीन भारतीय भाषाओं—प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में निबद्ध हैं और आज भी बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं। प्राचीन परम्पराओं के आधार पर संकलित या लिखित होने के कारण इन्हें प्राचीन माना जाता है। उपलब्ध सभी शास्त्रों का सीधा सम्बन्ध तीर्थंकर वर्धमान महावीर और उनकी परम्परा से है।

१.०२ जैन शास्त्रों को उनकी पूर्व परम्परा, लेखन-काल तथा विषय-वस्तु के आधार पर स्पष्ट रूप से परिभाषित और वर्गीकृत किया गया है। इसलिए वहाँ शास्त्रों की परिभाषा और उनकी विषयवस्तु के निर्देश का प्रश्न नहीं है। विज्ञान (नेचुरल साइन्सेज) तथा समाज-विज्ञान (सोशल-साइन्सेज) के आधार पर विषयों का अब जो नया वर्गीकरण किया जाता है, वैसा वर्गीकरण प्राचीन शास्त्रों का सम्भव नहीं है। इन शास्त्रों में प्रविष्ट होकर विभिन्न विषयों की सामग्री को खोजना होगा और उसकी वर्गीकृत विषय सूचियाँ तैयार करनी होंगी।

१.०३ शास्त्रों की विश्वसनीयता का प्रश्न, अनुसन्धान की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। प्राचीन शास्त्रों के अध्ययन-अनुसन्धान की, भाषावैज्ञानिक, तुलनात्मक तथा अन्य टेक्निकल पद्धतियाँ, पिछली दो शताब्दियों में विकसित हुई हैं। उनसे शास्त्रों की विश्वसनीयता का परीक्षण करना सम्भव हुआ है। इन कसौटियों पर कसने से अनेक प्राचीन बतायी जाने वाली पंथियों का पर्दाफाश हुआ है और अनेक शास्त्रों की विश्वसनीयता निर्बाध रूप से प्रमाणित हुई है।

१.०४ शास्त्रों के लेखन पर देश और काल का प्रभाव निश्चित रूप से देखा जाता है। प्रभाव की मात्रा कमोवेश हो सकती है, पर सर्वथा प्रभावहीन शास्त्र की कल्पना नहीं की जा सकती। शास्त्रों पर देश और काल के प्रभाव को जांचने का स्थूल आधार ऐतिहासिक और तुलनात्मक अपनाया जाता है। यह उपयोगी भी सिद्ध हुआ है। तुलनात्मक से अभिप्राय मात्र शास्त्रों की पारस्परिक तुलना से नहीं है, प्रत्युत समसामयिक पुरातात्विक, अभिलेखीय तथा अन्य साक्ष्यों से तुलना करके तथ्यों को जांचने-परखने से है।

परिसंवाद-४

शास्त्रों का अध्ययन आधुनिक सन्दर्भ में कैसे करे

२.०१ प्राचीन शास्त्रों में उपलब्ध सामग्री के आधुनिक सन्दर्भों में विश्लेषण का कार्य अत्यधिक कठिन है। प्रतीक-रूपक (एलीगोरीज), वर्णक (मोटिफ़) तथा अति-शयोक्तिपूर्ण विवरणों की स्थिति में यह कार्य और भी जटिल हो जाता है। इसके लिए बहुज्ञता, अध्ययन में सतत जागरूकता तथा आग्रह रहित उदार दृष्टि आवश्यक है। इनमें से किसी एक के भी अभाव में अध्येता शास्त्रों की दुर्व्याख्या भी कर सकता है और महत्वपूर्ण सामग्री नजरन्दाज भी हो सकती है। अतिशय औदार्य भी खतरनाक सिद्ध होता है।

२.०२ एक बड़ी कठिनाई यह भी आती है कि पारम्परिक विद्वान् नई व्याख्या-विश्लेषणों से अपनी असहमति भी व्यक्त कर सकते हैं, भले ही निष्कर्ष सही और महत्वपूर्ण हों। आगे मैं जैन शास्त्रों के सन्दर्भ में जो सामग्री तथा शास्त्रीय शब्दावलि और उसका विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत करूँगा, उसमें भी इस सम्भावना को सर्वथा नकारा नहीं जा सकता। मेरे साथ थोड़ी सुविधा और रियायत इसलिए हो जाती है कि एक ओर पारम्परिक शास्त्रीय पद्धति तथा दूसरी ओर आधुनिक अध्ययन पद्धति, दोनों के छोर कुछ-कुछ मेरी पकड़ में आ गये हैं। इसलिए यह भी कह सकता हूँ कि 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्, नानपेक्षितमुच्यते' अर्थात् मूल शास्त्र से हटकर कुछ नहीं लिखा जायेगा और अनपेक्षित भी कुछ नहीं कहा जायेगा।

शास्त्रों में सामाजिक और सांस्कृतिक तत्त्वों की खोज

३.०१ पहले कहा गया है कि वर्तमान में जो प्राचीन जैन शास्त्र उपलब्ध हैं, उन सभी का सीधा सम्बन्ध तीर्थंकर वर्धमान महावीर और उनकी परम्परा से है। महावीर के जीवन और उनकी परम्परा विषयक अनुसन्धानों ने इतने तथ्य हमारे सामने लाकर उपस्थित कर दिये हैं कि ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं के सन्दर्भ में उनके अन्तरशास्त्रीय (इन्टरडिसिप्लिनरी) अध्ययन-अनुसन्धान की सम्भावनाएं व्यापक और मुखर होती जा रही हैं।

३.०२ महावीर का जन्म ईसा पूर्व छठी शताब्दी में कब और किस दिन हुआ था यह भी इतिहासविदों ने निश्चित कर लिया है। भारतीय तिथियों के अनुसार चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को महावीर का जन्म हुआ। इसवी सन् की गणना के अनुसार वह दिन ३० मार्च ईसा-पूर्व ५९९ था। महावीर के पिता सिद्धार्थ वैशाली गणतन्त्र के कुण्डग्राम के राजा थे। इन दोनों स्थलों की पहचान पुरातात्विक सन्दर्भ सामग्री के आधार पर कर ली गयी है। समाजशास्त्रीय सन्दर्भ-सामग्री ने भी इसमें मदद की है। महावीर ज्ञातृवंशी थे। बिहार के इन क्षेत्रों में जथरिया जाति अभी भी वर्तमान

है। यह ज्ञातृ का ही अपभ्रंश-परिवर्तित नामकरण है। महावीर के अनुयायियों को श्रावक कहा गया है। बिहार के मानभूम, सिंहभूम आदि जिलों में सराक जाति अब भी पायी जाती है। वह अपने को महावीर की परम्परा का मानती है। समाज-शास्त्रीय दृष्टि से इन जातियों का अध्ययन महत्वपूर्ण हो सकता है। भारत के अन्य प्रदेशों में स्थित जैन धर्मानुयायियों का अध्ययन विभिन्न दृष्टियों से अपेक्षित है।

३.०३ महावीर ने स्वयं अपने पूर्व की किस परम्परा को अपनाया, इस विषय में भी गवेषणा हुई है। महावीर के माता-पिता पार्श्व के अनुयायी थे। पार्श्व के अनुयायी पार्श्वपत्य कहलाते थे। मगध में पार्श्वपत्यों के मोहल्ले के मोहल्ले मौजूद थे।

३.०४ पार्श्व से और पूर्व सिन्धुघाटी की सभ्यता तक पुरातात्विक अनुसन्धानों ने इस परम्परा का सूत्र जोड़ दिया है। इससे इस परम्परा के मानव-वैज्ञानिक अध्ययन की सम्भावनाएँ बनी हैं।

३.०५ महावीर 'जिन' माने जाते थे। इसलिए उनके अनुयायी कालान्तर में जैन कहलाए और उनके धर्म को जिनधर्म या जैन धर्म कहा गया। इन्हीं अर्थों में उनकी परम्परा के शास्त्रों को जैन शास्त्र कहा जा सकता है या कहा जाना चाहिए। वास्तव में प्राचीन भारतीय साहित्य के वैदिक, जैन, बौद्ध जैसे वर्गीकरण कालान्तर में अवैज्ञानिक सिद्ध होंगे, ऐसी हमारी धारणा है।

३.०६ जैन परम्परा के जो प्राचीन शास्त्र उपलब्ध हैं, वे विभिन्न प्रकार की प्राकृतों, संस्कृत, अपभ्रंश तथा विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं—प्राचीन कन्नड़, प्राचीन तमिल, जूनी गुजराती, पुरानी राजस्थानी आदि में उपलब्ध हैं। यह अकारण नहीं है। इसका ऐतिहासिक और शास्त्रीय आधार है। महावीर ने जन भाषा में उपदेश दिये थे जिसे अर्धमागधी कहा गया है। जैन शास्त्रों में कहा गया है कि हमारा वास्तविक प्रयोजन तात्पर्य समझाने से है, शब्दों से मोह या उनके प्रति आग्रह नहीं है। इसीलिए यह भी कहा गया कि भगवान् तो अर्थ का उपदेश देते हैं, उनके शिष्य उन्हें शब्दों में ग्रथित करते हैं—'अर्थ भासइ भगवा ।'

यही कारण है कि महावीर के शिष्य जिस क्षेत्र-प्रदेश में गये, वहाँ की भाषा में महावीर के उपदेशों को जन-मानस तक पहुँचाया, उसी में शास्त्रों की रचना की। यह एक बहुत बड़ा भेदक तत्त्व है जो जैन परम्परा को वैदिक या श्रौत-स्मार्त परम्परा से अलग करता है।

परिसंवाद-४

३.०७ जैन शास्त्रों में सामाजिक और सांस्कृतिक तत्त्व इतनी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं कि उनका समाजवैज्ञानिक और मानववैज्ञानिक अध्ययन इन विज्ञानों के लिए नयी आधारभूमि और नये क्षेत्र उद्घाटित करेगा। प्रस्तुत गोष्ठी के लिए जो आधार-सूत्र निर्धारित किये गये हैं, उनके सन्दर्भ में जैन शास्त्रों की दृष्टि को स्पष्ट करने का मैं प्रयत्न करूँगा।

मानवविज्ञान का पारम्परिक इतिहास

४.०१ सभी जैन-शास्त्र इस विषय में एकमत हैं कि मानव के सामाजिक जीवन का क्रमिक विकास हुआ है। विकास और ह्रास का क्रम पहिए की तरह वृत्ताकार घूमता रहता है। इसे 'कालचक्र' कहा गया है। उत्कर्षकाल को 'उत्सर्पिणी' और अपकर्ष काल को 'अवसर्पिणी काल' कहा गया है।

४.०२ इसी क्रम में 'भोगभूमि', 'धौगलिक जीवन', 'कल्पवृक्ष' और 'कुलकर व्यवस्था' का विवरण प्राप्त होता है। मानवविज्ञान की दृष्टि से इसे जाँचने-देखने पर मानवविज्ञान की भारतीय शब्दावलि तथा उपयोगी सामग्री प्राप्त हो सकती है।

४.०३ जैन शास्त्रों में मानव सभ्यता और सामाजिक जीवन के विकास का जो पारम्परिक इतिहास मिलता है, उसके अनुसार प्रारम्भ में मनुष्य का जीवन सम्पूर्ण रूप से भोग-मय था। इसी कारण उस युग को भोग-भूमि कहा गया है। तब न सामाजिक जीवन था और न समाज व्यवस्था के लिए आचार-संहिता। कहा जाता है कि तब 'युगल' पैदा होते थे और 'युगल' ही समाप्त हो जाते थे। युगलों का जीवन वृक्षों पर निर्भर था। उन्हीं से उनकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। इन वृक्षों को 'कल्पवृक्ष' कहा गया है। बाद के साहित्य में भोगभूमि और कल्पवृक्षों का जितना और जिस प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है, उससे उस युग का, उस युग के सामाजिक जीवन का ठीक-ठीक चित्र बना पाना सम्भव नहीं है, फिर भी उस वर्णन में से जो सूत्र प्राप्त होते हैं उनसे सामाजिक जीवन के प्रारम्भ की स्थिति का आधार मिलता है। इन सूत्रों का संकलन मानवविज्ञान के अध्ययन के लिए उपयोगी होगा।

४.०४ कुल और कुलकर परम्परा—जब धीरे-धीरे युगल समाप्त होने लगे और मानव सन्तति बढ़ने लगी तब कल्प-वृक्षों से उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में कठिनाई आरम्भ हो गयी। जनसंख्या वृद्धि के साथ एक ओर कल्प-वृक्ष बहुत कम पड़ने लगे, दूसरी ओर सामाजिक जीवन की शुरुआत हुई। मानव सन्तति ने छोटे-छोटे समूहों में रहना प्रारम्भ कर दिया जिसे 'कुल' कहा गया है। इस सामाजिक व्यवस्था को शास्त्रकारों ने 'कुलकर व्यवस्था' नाम दिया है। प्राप्त विवरण के

परिसंवाद-४

अनुसार १४ कुलकर हुए, जिन्होंने सामाजिक जीवन को व्यवस्थित करने के अनेक प्रयत्न किये। इन कुलकरों को 'मनु' भी कहा गया है। जैन शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य प्राचीन भारतीय शास्त्रों में भी मनुओं का विवरण प्राप्त होता है।

अन्तिम कुलकर नाभिराय थे। उनकी पत्नी का नाम मरुदेवी था। उन दोनों के जो पुत्र हुआ, उसका नाम 'ऋषभ' या 'वृषभ' रखा गया। जैन परम्परा में ऋषभ को प्रथम 'तीर्थंकर', 'आदिदेव' और जैन धर्म का प्रवर्तक माना गया है। पारम्परिक इतिहास का जो विवरण जैन पुराणकारों ने निबद्ध किया है, उसमें कहा गया है कि ग्राम और नगरों की संरचना तथा सामाजिक जीवन का व्यवस्थित रूप ऋषभ से ही आरम्भ हुआ। उन्होंने विभिन्न कार्यों के आधार पर समाज का गठन किया तथा सामाजिक जीवन के नियम बनाये। समाजविज्ञान की दृष्टि से 'वृषभ' शब्द भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। 'वृषभ' प्रजनन का प्रतीक है। संतति का स्रोत है। ऋषभ स्वयं 'वृषभ' है। 'शिव' से 'वृषभ' को अलग नहीं किया जा सकता।

४.०५ **वर्गविहीन समाज संरचना**—उस समय जिस कार्य को जिस व्यक्ति ने स्वेच्छा से स्वीकार किया, वह उसमें प्रवृत्त हुआ। तब न किसी प्रकार के वर्ग भेद की आवश्यकता हुई और न ही कार्यों के आधार पर किसी ने एक दूसरे को छोटा-बड़ा या ऊँच-नीच माना। इसलिए समाज संरचना की इस अवस्था को 'वर्ग-विहीन समाज संरचना' कहा जा सकता है। सामाजिक जीवन की यह मूलभूत जैन दृष्टि है, जो किसी न किसी रूप में कई सहस्र वर्ष बीतने के बाद भी जैन समाज में अबतक सुरक्षित और प्रयोग में है। कुलकर व्यवस्था में 'अपराध' और 'दण्ड' की जो स्थिति थी, उसका भी विवरण प्राप्त होता है।

भारतीय संस्कृति के नियामक तत्त्व और जैन संस्कृति

५.०१ भारतीय संस्कृति का सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दा सामाजिक गठन की अवधारणा है। जैन शास्त्रकारों ने जन्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था को अस्वीकृत किया है। उनका कहना है कि मनुष्य जाति एक है। उसमें पशुओं की तरह गौ और अश्व जैसा भेद नहीं किया जा सकता—'मनुष्यजातिरेकैव। नास्ति भेदो गवाश्ववत्।' यद्यपि देश और काल ने जैन समाज के गठन को अत्यधिक प्रभावित किया है, तथापि जैन शास्त्रकारों ने आज तक जन्म को 'वर्ग' भेद का नियामक तत्त्व स्वीकार नहीं किया। वर्तमान जैन समाज भी सामाजिक गठन की दृष्टि से इससे मुक्त है।

५.०२ भारतीय संस्कृति का दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू जीवन-पद्धति है। यह एक ऐसा निर्णायक तत्त्व है जो भारतीय समाज में 'एकता में अनेकता' का कारण है।

भारतीय संस्कृति विभिन्न प्रकार की जीवन-पद्धतियों का पुंज है। इसलिए इसे सामासिक संस्कृति (कम्पोजिट कल्चर) कहा जाता है।

५.०३ जीवन पद्धति के लिए हर समूह ने अपनी अलग आचार-संहिता का निर्माण किया है। आचार-संहिता के निर्माण में मूल आधार उस परम्परा का तात्त्विक-चिन्तन (मेटाफिजिक्स) रहा है। देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार उसमें अनेक नियम और उपनियम समाहित किये गये। इस प्रकार जैन परम्परा के चिन्तन ने एक स्वतन्त्र जीवन-पद्धति का निर्माण और विकास किया। इसके अनेक शास्त्र उपलब्ध हैं, जिन्हें 'उपासकाचार' या 'श्रावकाचार' कहा जाता है।

५.०४ आचार-संहिताओं के निर्माण में चरम सत्य की अवधारणा एक महत्वपूर्ण पहलू है। इसी के आधार पर जीवन के लक्ष्य का निर्धारण होता है। भारत में मात्र इसी जीवन को चरम सत्य मानते वाला चिन्तन भी विकसित हुआ तथा इस जीवन के साथ पूर्व और पश्चात् जीवन को स्वीकार करने वाला चिन्तन भी विकसित हुआ। इनको क्रमशः 'अनात्मवादी' और 'आत्मवादी' कहा गया।

जैन संस्कृति आत्मवादी है। उसके अनुसार यह जीवन जितना सत्य है, उतनी ही इसके पूर्व और इस जीवन के बाद के जीवन में सत्यता है। इसलिए जीवन का चरम लक्ष्य भूत, वर्तमान तथा भविष्य के जीवन को ध्यान में रख कर तय किया गया है।

जैन संस्कृति में जीवन का अन्तिम लक्ष्य 'आत्यन्तिक सुख' माना गया है। ऐसा सुख जो 'अक्षय' है, 'अनन्त' है। यही 'निश्चेयस' है। इसे ही 'निर्वाण' या 'मोक्ष' कहा गया है।

५.०५ जैन संस्कृति में व्यक्ति विशेष या अधिक से अधिक व्यक्तियों के निश्चेयस (ग्रेटेस्ट गुड आव ग्रेटेस्ट नम्बर) की बात नहीं कही गयी, प्रत्युत सभी जीवों (मानव मात्र नहीं) के निश्चेयस (गुड आव आल) की बात कही गयी है।

५.०६ निश्चेयस की उपलब्धि के लिए जैन संस्कृति में किसी मझौलिए (एजेंट) को स्वीकार नहीं किया गया और न यह माना गया कि किसी 'अनिर्वचनीय' 'अदृष्ट' 'सर्वशक्तिमान्' को समर्पित करने से, उसकी कृपा से निश्चेयस की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए उन्होंने सृष्टिकर्ता 'ईश्वर' की 'सत्ता' को अस्वीकार किया। उन्होंने कहा कि अपना ईश्वर व्यक्ति स्वयं है। अपना निश्चेयस उसे अपने 'पुरुषार्थ' से स्वयं प्राप्त करना होगा। यह एक ऐसा भेदक तत्त्व है, जो जैन संस्कृति को भारतीय संस्कृति की अन्य धाराओं से पृथक् करता है।

परिसंवाद-४

५.०७ जैन शास्त्रकारों ने 'साधन' और 'साध्य' दोनों की शुद्धता पर बल दिया है। निश्चयेस की प्राप्ति के लिए साधन की पवित्रता की बात करते हुए शास्त्रकारों ने अच्छी और बुरी प्रवृत्तियों और अच्छी और बुरी वस्तुओं का वर्गीकरण करने से पूर्व दृष्टि की निर्मलता, ज्ञान की सचाई और प्रवृत्ति की पवित्रता की बात कही है। यही 'धर्म' है। यही निश्चयेस का मार्ग है—'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मेश्वराः विदुः।'

इन्हीं के विवेचन में 'शुभ' और 'अशुभ', 'पाप' और 'पुण्य', 'भाग्य' और 'पुरुषार्थ' की अवधारणाओं का निर्माण हुआ।

प्रत्येक व्यक्ति के मन, वचन और शरीर की प्रत्येक प्रवृत्ति (एकटिविटी) शुभ या अशुभ हो सकती है। शुभ प्रवृत्ति पुण्य का और अशुभ पाप का कारण होती है—'शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य।' पुण्य सुख का और पाप दुःख का कारण बताया गया है।

पाप के मूल में प्रमाद (निग्लीजेन्स) प्रमुख कारण है। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि मनोभाव पाप और पुण्य दोनों के कारण हैं। इनके कारण ही व्यक्ति प्रवृत्ति करता है।

५.०८ लोकाचार और शास्त्राचार के सम्बन्ध में जैन शास्त्रकारों ने स्पष्ट कथन किया है। सोमदेव ने लिखा है कि गृहस्थों के दो धर्म हैं—एक लौकिक, दूसरा पारलौकिक। पारलौकिक धर्म के लिए शास्त्र आधार हैं और लौकिक धर्म के लिए लोक। 'लोक-धर्म' के निर्णायक तत्त्व दो हैं—एक तो जिससे आपकी सद्दृष्टि दूषित न हो, दूसरा जिससे आपके व्रत या नियम विशेष में दोष न लगे।

जैन शास्त्रकारों ने लोक-मूढ़ताओं के अन्तर्गत नदी और पर्वतों की पूजा, समुद्र और नदी में स्नान को पवित्रता का कारण, संक्रान्ति में दान, गाय के पृष्ठ भाग को नमस्कार, सूर्य को अर्घ्य देना, आदि का निषेध किया है।

जो प्रवृत्ति किसी एक कारण से त्याज्य है, उसे दूसरा बहाना खोज कर अपनाने का भी निषेध है। जैसे—हिंसा त्याज्य है, तो वह अतिथि, पितरों या देवताओं किसी के बहाने से भी नहीं की जानी चाहिए।

५.०९ प्राचीन जैन शास्त्रों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्त्वों के उपर्युक्त संकेत सामाजिक तथा मानवविज्ञान के अध्ययन-अनुसन्धान के लिए नयी सम्भावनाओं तथा नये क्षेत्रों को उद्घाटित करने में उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं।

श्रमणविद्या संकाय
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

परिसंवाद-४